

राजनीतिक अवसरवाद से कमजोर होती राष्ट्रीय एकता

- विनय द्विवेदी

बात, कोई तकरीबन चार दशक पुरानी होगी। "चिल्ला जाड़े दिन चालीस" में से एक दिन की शाम का वक़्त था। रोज की तरह बैल, भैंस, गाय और जानवरों के बच्चों को चारा डालने के बाद इन सबको छप्पर के नीचे बाँध रहे थे तभी दउआ (बड़े पिता जी या ताऊ जी जो भी कह लीजिये) ने रोज की तरह अलाव सुलगाने के लिए कहा। परिवार और मोहल्ले के दूसरे बच्चे भी इसी दौरान आने लगते थे, कोई कंडे ला रहा है तो कोई लकड़ी। मुझे बरोसी (दूध गर्म करने के लिए हांडी को इसमें रखा जाता था) में से सुलगे कंडे की आग लानी है। माचिस का उपयोग उस समय घरों में कम ही होता था। थोड़ी सी कोशिश से अलाव में रखी लकड़ियों ने अच्छे से आग पकड़ ली। इसी बीच परिवार और मोहल्ले के युवा और बुजुर्ग भी आकर अलाव के इर्दगिर्द बैठकर कंपा देने वाली सर्दी से खुद को बचाने के जतन में जुट जाते हैं, सोहराब चाचा भी इसी बीच आकर अलाव के पास बैठ जाते हैं। फिर क्या रोज की तरह दउआ की किस्सागोई शुरू हो जाती है। छप्पर में दूर पड़ी झाड़ू की ओर इशारा करते हुए दउआ बोले, देखो इसमें बहुत सी काड़ी (सीकें) हैं इन्हें जब तक एक साथ बाँध कर रखते हैं तब तक ये बुहारने (सफाई) का अच्छे से काम करती है लेकिन जैसे ही इसका बंध ढीला हो जाता है या टूट जाता है वैसे ही ये बिखर जाती है। ये सीकें असल में हमारे परिवार और समाज के अलग-अलग लोगों की एकजुटता और बिखराव को बताती हैं, दउआ ने बताया। उन्होंने सीख दी कि बच्चों को इससे सीखना चाहिए ताकि बड़े होकर सब एक साथ प्रेम और भाई चारे से रह सकें, क्योंकि एकता हमें ताकतवर तो बनाती ही है मज़बूती से आगे बढ़ने के लिए प्रेरित भी करती है।

इस किस्सागोई का जिक्र इसलिए किया है कि अब ऐसा शायद ही किसी गाँव या मोहल्ले में देखने को मिलता होगा। हाँ, इसकी उपयोगिता को वो लोग जरूर समझते होंगे जो इसके जरिये संस्कारित होकर बड़े हुए हैं। शहरों के मोहल्लों में भी ऐसा होता था, भोपाल के पटिये किस्सागोई के बड़े अड्डे हुआ करते थे, अब वो भी तकरीबन खत्म हो गए हैं। अब क्या बच्चे, क्या जवान और क्या वृद्ध सबके हाथों में स्मार्ट फोन हैं, जिसमें GB में नेट उपयोग के लिए डाटा पैक है और व्हाट्सएप्प यूनिवर्सिटी से संस्कारित होकर लोग ज्ञानी बन रहे हैं। किताबों से 'इश्क' तो पहले ही बहुत कम लोगों को होता था अब तो उनकी संख्या भी ना के बराबर है। अब 'प्रेमपत्र' पढ़ने को कहाँ मिलते हैं, व्हाट्सएप्प पर प्रेमियों के बीच फ़टाफ़ट सन्देश भेजे जाते हैं। इस सब के बीच जो तेजी से बदली है वो है हमारे देश की राजनीति। नैतिक नैतिकता की हत्या की जा चुकी है और इसकी 'लाश' पर मुखौटे लगाकर राजनीतिक शव साधना की जा रही है। राष्ट्रीय एकता किसी भी राष्ट्र की सबसे बड़ी ताकत होती है, उसे सत्ता के लिए हमारे हुक्मरान कमजोर किये जा रहे हैं। एक खास तरह की सोच तेजी से उभरी और शक्तिशाली हुई है जो अपने राजनीतिक नफे-नुक्सान के आंकलन से सही और गलत का निर्धारण करती है। कई मामलों में तो ऐसा लगता है कि हम कानूनीराज में नहीं जंगलराज में जी रहे हैं। भीड़ की हिंसा अब हत्यारे झुंडों का रूप लेकर सभ्य नागरिकों को डरा रही है। समाज में दहशत का माहौल बनता जा रहा है। पुलिस कानूनी कार्यवाही के बजाय सरकारों के 'यसमैन' की तरह काम कर रही है। कई मामलों में न्यायपालिका का व्यवहार लोगों को निराश कर रहा है। क्या किसी सभ्य और लोकतांत्रिक समाज में इस तरह की घटनाओं के लिए कोई गुंजाइश हो सकती है?

थोड़ा पीछे देखते हैं। आज़ादी के आंदोलन के दौर को याद कर लीजिये। राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व की प्राथमिकता में राष्ट्रीय एकता का सवाल क्यों था? क्योंकि उस दौर के नेतृत्व को अच्छे से पता था कि बिना राष्ट्रीय एकता के गुलामी की बेड़ियों से मुक्ति संभव नहीं है। इसके बाद के दौर में मुख्यधारा की राजनीति देश की एकता और अखंडता को मज़बूत करने और इसकी रक्षा करने के लिए प्रयासरत रही है। अपवाद तो हर मामले में होते हैं लेकिन वो उदाहरण नहीं हो सकते इसलिए इसी दौर के राजनीतिक अवसरवाद उल्लेखनीय नहीं हैं क्योंकि उनसे कभी भी राष्ट्रीय एकता को चुनौती नहीं मिली है। खालिस्तानी पृथकतावादी आंदोलन से देश की एकता अखण्डता की रक्षा में तत्कालीन प्रधानमन्त्री और देश की राष्ट्रीय नेता इंदिरा गाँधी ने अपनी जान की कुर्बानी तक दी है। वो दौर कुछ और था, ये दौर कुछ और है। इस दौर में राष्ट्रीय एकता के सवाल को जुमले की तरह इस्तेमाल किया जा रहा। राजनीति शास्त्र और इतिहास की किताब के किसी पन्ने से सन्दर्भ लेकर तर्क करने की बजाय व्हाट्सएप्प और सोशल मीडिया पर योजनाबद्ध तरीके से आई टी सेल के द्वारा गढ़े गए सूत्रों से कुतर्क किये जा रहे हैं। इस सब के जरिये सरकार को राष्ट्र बता कर सरकार विरोध को राष्ट्र विरोध स्थापित करने की कोशिशें की जा रही हैं। राजनीतिक नेतृत्व और सरकार से सवाल को देशद्रोह करार दिए जाने का विचार हालिया दौर की ही तो बात है। सरकार तो कितनी आई और गई लेकिन राष्ट्र तो वहीं है।

राजनीतिक अवसरवाद लोगों की कठिनाइयों और परेशानियों को परे रखकर हर मामले को भारत-पाकिस्तान और हिन्दू-मुसलमान बना रहा है और हमारा मीडिया इस खेल में पियादे की भूमिका निभा रहा है। हाँ फिलवक्त का सच है कि चुनाव इससे जीते जा रहे हैं। तो फिर बड़ा सवाल ये है कि क्या चुनाव जीतने के लिए राष्ट्रीय एकता को ऐसे ही कमजोर होने दिया जा सकता है? क्या राष्ट्रीय एकता की कमजोर की जा रही कड़ियों के टूटने का इंतज़ार किया जा सकता है? क्या बिना मज़बूत राष्ट्रीय एकता के राष्ट्र विकास कर सकता है? दरअसल बात इतनी भर नहीं है कि सत्ता बरकरार रखना है बल्कि बहुत योजनाबद्ध तरीके से देश को नस्लीय राष्ट्र बनाना है इसीलिए तो नस्लीय दर्शन को अस्वीकारने वालों को राष्ट्रद्रोही बना कर मुकदमों में फंसाया जा रहा है, उन पर हमले किये जा रहे हैं, उन्हें डराया और धमकाया जा रहा है। और जो लोग इसमें सहयोगी बन रहे हैं उनके अपराधों को कालीन के नीचे दबाया जा रहा है। असहमतियां राष्ट्रीय एकता के लिए जरूरी हैं क्योंकि बिना ताकतवर लोकतंत्र के राष्ट्रीय एकता की कल्पना की नहीं जा सकती। ताज भोपाली की ये शेर आज बहुत मौजू है -

में चाहता हूँ - निजामें कुहन बदल डालूं मगर ये बात फकत मेरे बस की बात नहीं
चलो उठो मेरी दुनिया के आम इंसानों, ये सब की बात है दो चार दस की बात नहीं।

(प्रस्तुति: मनुज फीचर सर्विस)

नोट: मनुज फीचर सर्विस में छपे लेखों के विचार लेखक के अपने हैं। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। यहां प्रकाशित सामग्री का उपयोग गैर व्यावसायिक कार्यों के लिए करने हेतु किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं है। मनुज फीचर सर्विस का उल्लेख अवश्य करें।